एकीभाव स्तोत्र के आधार पर भगवान, भक्त और भक्ति का स्वरूप

बाह्य आराधना से आत्मानुभूति तक : एक दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अनुशीलन

लेखकः

डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़'

(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)

महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन

संयुक्त मंत्री – अ.भा.दि. जैन शास्त्रिपरिषद्

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्म-बन्धो,
घोरं दुःखं भव-भव-गतो दुर्निवारः करोति ॥
तस्याप्यस्य त्वयि जिनरवे! भक्तिरुन्मुक्तये चे-
ज्जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

शोध-सार

जैन दर्शन में भगवान, भक्त और भक्ति की अवधारणा को समझने के लिए *एकीभाव स्तोत्र* अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति है। यह स्तोत्र केवल जिनेन्द्र-स्तुति या पूजन-विधान का काव्यात्मक रूप नहीं है, बल्कि भगवान के वीतराग स्वरूप, भक्त की साधक-सत्ता और भक्ति की आत्मपरिणामकारी शक्ति का गहन आध्यात्मिक विवेचन प्रस्तुत करता है। इसमें भगवान को सर्वज्ञ, वीतराग, अनन्तगुणसम्पन्न, कर्मक्षयरूप परमपद को प्राप्त तथा लोकहितकारी उपदेशदाता के रूप में देखा गया है। दूसरी ओर भक्त स्वयं को संसार, मोह, कषाय, अज्ञान और कर्मबंधन से आबद्ध जीव के रूप में पहचानते हुए भगवान के गुणों की ओर उन्मुख होता है।

इस स्तोत्र की मौलिकता "**एकीभाव**" की संकल्पना में निहित है। "एकीभाव हो आत्म से" का उद्घोष यह स्पष्ट करता है कि यहाँ भगवान और जीव के द्रव्यात्मक अभेद की स्थापना नहीं की गई, बल्कि भक्त की चेतना को भगवान के वीतराग गुणों के अनुरूप बनाने की साधना प्रस्तुत हुई है।

स्तोत्र में पूजा के प्रत्येक उपचार को आत्मसाधना के प्रतीक में रूपांतरित किया गया है। चन्दन कषाय-शमन का, पुष्प काम-विजय का, नैवेद्य आत्मानुभव का, दीप भेदज्ञान का और धूप अज्ञान-मोह के दहन का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार *एकीभाव स्तोत्र* बाह्य पूजा को आंतरिक साधना से जोड़ते हुए यह प्रतिपादित करता है कि **पूजा का केंद्र भगवान हैं, पर उसकी परिणति आत्मा में होनी चाहिए।**

अतः इस शोध का केंद्रीय निष्कर्ष है—**भगवान आदर्श हैं, भक्त साधक है और भक्ति वह भाव-साधना है जो साधक को भगवान के गुणों की दिशा में ले जाती है। एकीभाव सत्ता का नहीं, साधना की दिशा का है।**

बीज-शब्दः एकीभाव, भगवान, भक्त, भक्ति, वीतरागता, आत्मानुभूति, भेदज्ञान, तत्त्वज्ञान, कर्मक्षय, मोक्ष, जिनपूजा।

❖ प्रस्तावना :-

भगवान को खोजते-खोजते स्वयं तक - मनुष्य की आध्यात्मिक यात्रा का एक सनातन प्रश्न है—**भगवान कहाँ हैं?** मंदिर में? प्रतिमा में? तीर्थ में? शास्त्र में? गुरु में? अथवा स्वयं के भीतर? भक्ति इस प्रश्न को भाव देती है, दर्शन उसे दिशा देता है और आत्मानुभूति उसका उत्तर बनती है। जैन दर्शन कहता है कि जिनेन्द्र भगवान किसी ऐसी सृष्टिकर्ता सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हैं जो संसार का निर्माण, संचालन अथवा जीवों के कर्मों का निर्णय करती हो। वे उस आत्मा की परम परिणति के आदर्श हैं जिसने कर्मावरणों का क्षय कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की पूर्णता प्राप्त की है।

एकीभाव स्तोत्र इसी भगवान की ओर भक्त की दृष्टि को मोड़ता है। स्तोत्र का आरंभ भगवान के ज्ञान-दर्शन-सौंदर्य और जन्मादि दोषों से रहित स्वरूप के स्तवन से होता है। वहाँ भगवान का समवसरण में विराजमान वीतराग स्वरूप भक्त के लिए भवक्लेश से परे एक आदर्श के रूप में उपस्थित है किन्तु इस स्तोत्र का वास्तविक सौंदर्य केवल भगवान की महिमा में नहीं, बल्कि **उस महिमा के भक्त के भीतर होने वाले प्रभाव में** है। यही इस शोध का मूल प्रश्न है— **यदि भगवान पूर्ण हैं तो भक्त की साधना का लक्ष्य क्या है? यदि भगवान वीतराग हैं तो भक्त की भक्ति किस ओर जाएगी? और यदि भक्ति केवल स्तुति नहीं है, तो उसकी वास्तविक परिणति क्या है?** *एकीभाव स्तोत्र* इन तीनों प्रश्नों का उत्तर एक ही दिशा में देता है—**आत्मपरिष्कार।**

❖ आचार्यश्री वादीराजसूरि : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्यश्री वादीभराजसूरि जैन साहित्य और दर्शन-परम्परा के ऐसे बहुआयामी आचार्य थे, जिनके व्यक्तित्व में गहन शास्त्रज्ञान, तार्किक प्रतिभा, काव्य-सौन्दर्य और आध्यात्मिक साधना का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। परम्परागत स्रोतों में उनका समय दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के

आसपास माना गया है। उनका सम्बन्ध दक्षिण भारत की जैन परम्परा तथा द्रविड़ संघ के नन्दि संघ से बताया जाता है। उनके गुरु के रूप में आचार्य मतिसागर का उल्लेख मिलता है।

उनकी असाधारण विद्वत्ता और वाद-कौशल के कारण उन्हें 'स्याद्वादविद्यापति', 'षट्तर्कषण्मुख' तथा 'जगदेकमल्लवादी' जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया। ये उपाधियाँ केवल सम्मानसूचक अलंकरण नहीं, बल्कि उनके तर्कशास्त्रीय और दार्शनिक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा को प्रकट करती हैं।

- **प्रमुख कृतियाँ – आचार्य वादीराजसूरि की प्रमुख रचनाओं में—**

- **पार्श्वनाथचरित**
- **यशोधरचरित**
- **एकीभावस्तोत्र**
- **न्यायविनिश्चयविवरण**
- **प्रमाणनिर्णय**

का विशेष उल्लेख किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व केवल भक्तिकाव्य तक सीमित नहीं था; उन्होंने न्याय, प्रमाण, दर्शन और चरितकाव्य जैसे विविध क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

- **एकीभाव स्तोत्र से सम्बन्ध- आचार्य वादीराजसूरि की रचनाओं में 'एकीभाव स्तोत्र' का विशिष्ट स्थान है। यह स्तोत्र भगवान के प्रति भक्तिभाव व्यक्त करते हुए साधक को बाह्य उपासना से आगे आत्मचिन्तन और आत्मबोध की ओर ले जाता है। इसमें भगवान वीतरागता के आदर्श हैं, भक्त साधक है और भक्ति आत्मशुद्धि का माध्यम।**

एकीभाव का आशय यहाँ भगवान और जीव की द्रव्यात्मक एकता नहीं, बल्कि भगवान के निर्मल गुणों के प्रति साधक की चेतना का गहन अनुराग और एकाग्रता है। इसीलिए स्तोत्र की भक्ति भावुकता तक सीमित न रहकर तत्त्वचिन्तन से जुड़ जाती है।

- **कुष्ठ-निवारण की परम्परागत कथा – आचार्य वादीराजसूरि के जीवन से सम्बद्ध एक प्रसिद्ध परम्परागत कथा के अनुसार उनके शरीर में कुष्ठ का प्रकोप हुआ। शारीरिक पीड़ा के बावजूद**

वे साधना और भगवान की भक्ति में स्थित रहे तथा इसी प्रसंग में *एकीभाव स्तोत्र* की रचना की गई। परम्परा में इसके पाठ से रोग-शमन की कथा भी मिलती है। इसे ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित चिकित्सा-तथ्य के रूप में नहीं, बल्कि स्तोत्र की धार्मिक आस्था और माहात्म्य से जुड़ी परम्परागत कथा के रूप में प्रस्तुत करना शोधलेख की दृष्टि से अधिक उचित होगा।

आचार्य वादीराजसूरि का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने तर्क को भक्ति का विरोधी नहीं बनने दिया और भक्ति को विवेक से विच्छिन्न नहीं होने दिया। उनके यहाँ शास्त्र ज्ञान देता है, तर्क दृष्टि देता है और भक्ति आत्माभिमुखता प्रदान करती है इसीलिए *एकीभाव स्तोत्र* को समझते हुए वादीराजसूरि का व्यक्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वे केवल भगवान के स्तुतिकार नहीं, बल्कि ऐसे चिन्तक हैं जो भगवान के गुणों के माध्यम से साधक को उसके अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की ओर मोड़ते हैं। "भगवान आदर्श हैं, भक्त साधक है और भक्ति वह सेतु है जो आदर्श को साधना तथा साधना को आत्मबोध से जोड़ता है।" यही *एकीभाव स्तोत्र* और आचार्य वादीराजसूरि के अध्ययन की केंद्रीय भूमि है।

❖ एकीभाव स्तोत्र : भक्ति का दार्शनिक दस्तावेज

एकीभाव स्तोत्र बीजाक्षर विधान के पृष्ठ 14 से स्तोत्र का प्रमुख काव्यात्मक भाग आरंभ होता है। प्रथम पद में भगवान को सर्वज्ञ, कल्याणमय उपदेशदाता, ज्ञान-दर्शन-सौख्य से सम्पन्न और जन्मादि दोषों से रहित बताया गया है। इसके तत्काल बाद एक दोहा पूरे स्तोत्र की दार्शनिक दिशा निर्धारित कर देता है—

"एकीभाव हो आत्म से, मिट जाएँ सब द्वंद्व।
भेदज्ञान की ज्योति से, नशैं सकल जगफंद॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 14, दोहा।

यह दोहा केवल स्तोत्र की शुरुआत का पद्य नहीं, बल्कि उसके **दार्शनिक बीज** के समान है। "एकीभाव" का संबंध यहाँ "आत्म" से है और उसके साथ "भेदज्ञान की ज्योति" को जोड़ा गया है। अतः यह एकीभाव जीव और भगवान के द्रव्यात्मक विलय का सिद्धान्त नहीं है; यह आत्मा के शुद्ध स्वरूप की ओर एकाग्र होने की साधना है। यहीं से शोध का केंद्रीय सूत्र निकलता है— **एकीभाव सत्ता का अभेद नहीं, साधना की एकाग्रता है।**

❖ भगवान का स्वरूप : वीतरागता की चरम उपलब्धि

- **भगवान सर्वज्ञ और कल्याणमय –** स्तोत्र का प्रथम पद भगवान को सर्वज्ञ, कल्याणमय उपदेशदाता तथा ज्ञान-दर्शन-सौख्य से सम्पन्न बताता है। भगवान की महानता किसी बाहरी शक्ति में नहीं, बल्कि **पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागता** में है। जैन दर्शन में भगवान बनने का अर्थ किसी सत्ता का विशेषाधिकार प्राप्त करना नहीं, बल्कि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को कर्मावरणों से पूर्णतः मुक्त कर लेना है इसलिए भगवान का दर्शन भक्त के लिए आश्चर्य से अधिक **संभावना का दर्शन** है। भगवान को देखकर भक्त यह नहीं सोचता— "भगवान इतने महान हैं और मैं कभी ऐसा नहीं हो सकता।" बल्कि आदर्श रूप में उसे यह समझना चाहिए— **"जो आत्मा की पूर्णता वहाँ प्रकट हुई है, उसकी दिशा मेरे भीतर भी संभावित है।"** यही भाव जैन भक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है।
- **भगवान वीतराग हैं –** पृष्ठ 14 के पद्य में भगवान को चन्दन-वृक्ष के समान शीतल और क्रोधादि कषायों को विषधर के समान बताया गया है—

> **"शीतल चंदन तरु रूप विभो, क्रोधादिक विषधर लिपट रहे।**
> **गुण क्षमा मार्दव आर्जव लख, भयभीत हुए से सिमट रहे॥"**
>
> — *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 14।

यहाँ भगवान की वीतरागता केवल दार्शनिक परिभाषा नहीं रह जाती; वह भक्त के लिए **कषाय-विजय का आदर्श** बन जाती है। क्रोध, मान, माया और लोभ भगवान के निकट टिक नहीं सकते—यह संदेश भक्त के लिए अत्यंत व्यावहारिक है इसलिए भगवान की पूजा का अर्थ केवल भगवान के चरणों में चन्दन चढ़ाना नहीं; उसका अर्थ है— **अपने भीतर की उष्णता को शीतल करना।**

❖ भगवान : भक्त के लिए दर्पण

भगवान को देखने का सामान्य तरीका है—"मैं भगवान को देख रहा हूँ।" लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि इससे आगे जाती है— **"भगवान को देखकर मैं स्वयं को देख रहा हूँ।"** भगवान वीतराग हैं—मैं कितना रागी हूँ? भगवान क्षमाशील हैं—मेरे भीतर कितना क्रोध है? भगवान निर्मल हैं—मेरे भीतर कितना कपट है? भगवान अनन्तज्ञानी हैं—मेरे भीतर कितना अज्ञान है? यही तुलना भक्त को आत्मपरीक्षण की ओर ले जाती है। इस अर्थ में जिनप्रतिमा केवल आराध्य नहीं, **आत्मदर्पण** है।

❖ भक्त का स्वरूप : याचक नहीं, साधक

एकीभाव स्तोत्र का भक्त भगवान से सांसारिक उपलब्धियों की लंबी सूची नहीं माँगता। वह जन्म-जरा-मरण से मुक्ति, मोहक्षय, आत्मगुणों के जागरण और भेदज्ञान की प्राप्ति चाहता है। पृष्ठ 14 का यह पद्य भक्त की साधना की दिशा स्पष्ट करता है—

"जिनभक्ति में हो एकीभाव, वंदन कर भाव सजाते हैं।
हो जन्म-जरा-मृतु विजय विभो, प्रासुक जल चरण चढ़ाते हैं॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 14।

यहाँ जल केवल पूजा का उपचार नहीं है। उसके साथ जन्म-जरा-मृत्यु पर विजय की आकांक्षा जुड़ती है। अर्थात् भक्त बाह्य जल से भगवान के चरणों का अभिषेक करते हुए भीतर **संसार-चक्र से मुक्त होने की भावना** करता है। भक्त की परिभाषा इसलिए यह नहीं कि वह कितनी पूजा करता है, बल्कि यह है कि— **भगवान की पूजा के बाद उसके भीतर क्या बदलता है?**

6. भक्ति का स्वरूप : पूजा से परिणति तक

भक्ति शब्द में भाव है, श्रद्धा है, अनुराग है, समर्पण है; पर जैन आध्यात्मिकता में भक्ति का सर्वोच्च रूप **गुणानुराग** है। भगवान के गुणों का चिंतन करते-करते भक्त उन्हीं गुणों की दिशा में अपने परिणाम को ले जाता है इसलिए भक्ति के तीन क्रम माने जा सकते हैं— **बाह्य भक्ति** → **भावभक्ति** → **आत्मपरिणमन**। बाह्य पूजा आवश्यक हो सकती है, पर वह अंतिम लक्ष्य नहीं। चन्दन चढ़ाना बाह्य भक्ति है। क्रोध का शमन भावभक्ति है। क्षमा का स्वभाव बन जाना आत्मपरिणमन है। दीप जलाना बाह्य क्रिया है। ज्ञान का प्रकाश चाहना भावभक्ति है। भेदज्ञान में स्थित होना आत्मपरिणमन है। यही *एकीभाव स्तोत्र* की पूजा-दृष्टि है।

❖ चन्दन : कषाय-शमन का प्रतीक

स्तोत्र में चन्दन समर्पित करते हुए संसार-ताप के विनाश की भावना है। पृष्ठ 14 पर चन्दन को भगवान के शीतल स्वरूप और क्रोधादि कषायों के शमन से जोड़ा गया है। चन्दन की शीतलता यहाँ मन की शीतलता का प्रतीक बनती है। मनुष्य का सबसे बड़ा ताप बाहर की गर्मी नहीं, **अंदर की कषाय है।** क्रोध जलाता है। मान फुलाता है। माया उलझाती है। लोभ बाँधता है। भगवान के चरणों पर चन्दन चढ़ाते समय यदि भक्त अपने भीतर इन कषायों की उष्णता को अनुभव कर सके, तभी चन्दन-पूजा का आध्यात्मिक अर्थ खुलता है।

❖ अक्षत : अक्षय पद की आकांक्षा

पृष्ठ 15 में अक्षय द्रव्य-दृष्टि, शाश्वत निजगुण और अक्षय पद की प्राप्ति का भाव व्यक्त हुआ है—

"अक्षय अजरामर द्रव्य दृष्टि, क्षण-क्षण ध्वंसित पर्यायें।
शाश्वत निज गुण गौरव गरिमा, सद् द्रव्य दृष्टि से लख पायें॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 15।

यहाँ पूजा का उपचार जैन द्रव्य-पर्याय सिद्धांत से जुड़ जाता है। पर्याय परिवर्तनशील है; द्रव्य की सत्ता शाश्वत है। भक्त का ध्यान क्षणिक उपलब्धियों से हटकर आत्मा के शाश्वत गुणों की ओर जाता है। अगली पंक्तियाँ इसी भाव को आगे बढ़ाती हैं—

"जिनभक्ति में हो एकीभाव...
हो अक्षय पद की प्राप्ति विभो, अक्षत तव चरण चढ़ाते हैं॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 15।

अतः अक्षत केवल चावल नहीं; वह **अक्षय आत्मपद की आकांक्षा** का प्रतीक है।

❖ पुष्प : काम-विजय और आत्मबल

पृष्ठ 15 पर पुष्पार्पण के साथ काम-विजय की भावना आती है—

"पुष्पों से कोमल आतम यह, छल माया से नित छला गया।
मेरु सी दृढ़ता को लखकर, वह काम स्वयं ही चला गया॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 15।

यहाँ कवि ने अत्यंत सुंदर मनोवैज्ञानिक प्रतीक प्रस्तुत किया है। आत्मा पुष्प से भी कोमल है, लेकिन साधना में उसे मेरु जैसी दृढ़ता चाहिए। भक्ति मनुष्य को दुर्बल नहीं बनाती; **वह उसे संयम में दृढ़ बनाती है।** भगवान के चरणों में पुष्प चढ़ाते हुए भक्त के भीतर यह संकल्प जागना चाहिए कि कामना, विषयासक्ति और चंचलता पर विजय प्राप्त करनी है।

❖ नैवेद्य : शरीर का पोषण नहीं, आत्मगुणों का पोषण

पृष्ठ 15 का यह पद्य भक्ति की दिशा को और गहरा करता है—

"नाना व्यंजन से तनपोषण, आतम गुण पोषित नहीं कीने।

लख क्षुधा रोग से परे निजे, आतम अनुभव रस चख लीने॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 15।

यहाँ नैवेद्य का अर्थ अत्यंत सूक्ष्म हो जाता है। शरीर भोजन से पुष्ट होता है, लेकिन आत्मगुण भोजन से पुष्ट नहीं होते। आत्मगुणों का पोषण **आत्मानुभव** से होता है इसलिए भगवान के सामने नैवेद्य अर्पित करते समय भक्त की चेतना को प्रश्न करना चाहिए— **मैं शरीर को कितना खिला रहा हूँ और आत्मा को कितना जगा रहा हूँ?** यही प्रश्न भक्ति को आध्यात्मिक बनाता है।

❖ दीप : बाहरी प्रकाश से भेदज्ञान की ज्योति तक

एकीभाव स्तोत्र की सबसे अर्थपूर्ण पंक्तियों में से एक दीप के संदर्भ में आती है—

"दीपावलियाँ प्रज्वलित करें, अज्ञान नहीं क्षय कर पाएँ।
मन भेदज्ञान का दीप जला, कैवल्य उजाला प्रभु पाएँ॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 15।

यहाँ पूरा दर्शन दो पंक्तियों में सिमट गया है। बाहर दीप जल सकता है और भीतर अज्ञान वैसा ही रह सकता है। बाहर प्रकाश हो सकता है और भीतर मिथ्यात्व का अंधकार बना रह सकता है इसलिए कवि कहता है—**मन में भेदज्ञान का दीप जलाओ**। यहाँ भेदज्ञान का अर्थ आत्म और पर के यथार्थ विवेक से है। भक्ति का उद्देश्य इसलिए केवल प्रकाश देखना नहीं, **प्रकाश बनना** है।

❖ धूप : अज्ञान और मोह का दहन

पृष्ठ 15 पर धूप के माध्यम से अज्ञान और मोह को जलाने की भावना व्यक्त की गई है—

"ये धूप सुगंधित जग व्यापी, मम आतम है अघ से मैली।
वर शुक्ल ध्यान की अग्नि में, आहुति अज्ञान मोह थैली॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 15।

यहाँ धूप बाह्य सुगंध से आंतरिक शुद्धि की ओर ले जाती है। जगत् में सुगंध फैलाने वाली धूप से अधिक महत्त्वपूर्ण है वह साधना जो **अज्ञान और मोह को जला दे**। धूप का धुआँ कुछ समय बाद समाप्त हो जाता है; लेकिन यदि शुक्लध्यान की दिशा में साधना हो तो उसका प्रभाव आत्मा के परिणामों में दिखाई देता है।

धूप अर्पण के साथ अष्टकर्म-दहन की भावना आती है। यहाँ भक्ति और कर्मसिद्धांत का संबंध स्पष्ट होता है। भगवान स्वयं भक्त के कर्मों को हाथ से हटाकर बाहर नहीं फेंकते। भक्त भगवान के गुणों का स्मरण करके अपने परिणामों को शुद्ध करता है; यही शुद्ध परिणाम कर्मनिर्जरा की दिशा में ले जाते हैं। अतः— **भगवान कर्म नहीं काटते; भगवान को देखकर भक्त अपने भीतर कर्मबंध के कारणों को काटने की साधना करता है।** यही जैन भक्ति की दार्शनिक स्वतंत्रता है।

❖ फलः- भक्त और तत्त्वज्ञान : भक्ति अंधविश्वास नहीं

पृष्ठ 16 का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण पद्य है—

"मन चाहे मोक्ष महाफल को, पर पुण्य-पाप फल में उलझा।
कर तत्त्वज्ञान आगम मंथन, तज हेय-उपादेयों सुलझा॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 16।

यह पद्य *एकीभाव स्तोत्र* की भक्ति को विशिष्ट दार्शनिक ऊँचाई प्रदान करता है। भक्त मोक्ष चाहता है, लेकिन पुण्य-पाप के फल में उलझा हुआ है। समाधान है—**तत्त्वज्ञान और आगम-मंथन।** इसलिए भक्ति ज्ञान-विरोधी नहीं है। बल्कि— **भक्ति श्रद्धा देती है। ज्ञान दिशा देता है। चारित्र यात्रा कराता है और आत्मानुभूति साध्य की अनुभूति कराती है।**

❖ हेय—उपादेय विवेक : भक्त की बौद्धिक परिपक्वता

"हेय" और "उपादेय" का विवेक जैन साधना की मूल आवश्यकता है। जो छोड़ने योग्य है, उसे छोड़ना। जो ग्रहण करने योग्य है, उसे ग्रहण करना। राग हेय है। द्वेष हेय है। मोह हेय है। मिथ्यात्व हेय है। सम्यग्दर्शन उपादेय है। ज्ञान उपादेय है। संयम उपादेय है। आत्मानुभूति उपादेय है। अतः सच्चा भक्त केवल भावुक नहीं होता; वह **विवेकी** भी होता है।

❖ भेदज्ञान : भक्ति का निर्णायक परिणाम

उसी पद्य में आगे कहा गया है—

"हो भेदज्ञान फल मुक्तिफल, प्रासुक फल चरण चढ़ाते हैं॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 16।

यहाँ "भेदज्ञान" और "मुक्तिफल" का सीधा संबंध स्थापित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि स्तोत्र की भक्ति का अंतिम लक्ष्य केवल पुण्य-संचय नहीं है। पुण्य भी संसार में सुख दे सकता है; परंतु मोक्ष के लिए आत्म और पर का यथार्थ विवेक आवश्यक है इसलिए एकीभाव की साधना अंततः **भेदज्ञान में प्रतिष्ठित होती है।** यह एक अत्यंत सूक्ष्म बिंदु है—

एकीभाव आत्मा से है, और मुक्ति भेदज्ञान से।

दोनों विरोधी नहीं हैं। आत्मस्वरूप में एकाग्र होने के लिए पर से भिन्न अपने स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है।

❖ आत्मपद : भक्ति का अंतिम आश्रय

पृष्ठ 16 पर आत्मा के निर्मल, निर्लेप और निरामय स्वरूप का वर्णन है—

"निर्मल निर्लेप निरामय पद, भव-पद कर्मों कृत माया है।
निज पद अनर्घ्य की अनुभूति, नहीं कर्मों का जहाँ साया है॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 16।

यहाँ स्तोत्र भगवान की पूजा से **निज पद** की अनुभूति तक पहुँचता है। यही इसकी दार्शनिक यात्रा है— **जिन** → **जिनगुण** → **गुणानुराग** → **आत्मचिंतन** → **भेदज्ञान** → **आत्मानुभूति।** अतः भक्त भगवान की पूजा करता है, लेकिन उसकी अंतिम आकांक्षा अपने आत्मपद की प्राप्ति है।

❖ भगवान—भक्त—भक्ति : त्रिकोणात्मक संबंध

अब तीनों अवधारणाओं को एक साथ देखा जा सकता है।

तत्त्व	मूल स्वरूप	आध्यात्मिक भूमिका
भगवान	वीतराग, सर्वज्ञ, अनन्तगुणसम्पन्न	आदर्श
भक्त	संसारबद्ध, जिज्ञासु, साधक	साध्य की ओर बढ़ने वाला
भक्ति	श्रद्धा, गुणानुराग, पूजन, आत्मपरिणमन	साधना का माध्यम

इस त्रिकोण में भगवान लक्ष्य के आदर्श हैं, भक्त पथिक है और भक्ति यात्रा की ऊर्जा है लेकिन यहाँ एक और गहरी बात है— **भगवान बदलने वाले नहीं हैं; भक्त बदलने वाला है।** भगवान पूर्ण हैं। परिवर्तन भक्त में होना है। यही भक्ति की वास्तविक परीक्षा है।

❖ एकीभाव : क्या भगवान और जीव एक हैं ?

यह प्रश्न इस शोध का दार्शनिक केंद्र है। "एकीभाव" शब्द को यदि सतही अर्थ में लिया जाए तो ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जीव और भगवान की सत्ता एक हो जाती है किंतु जैन दर्शन की जीव-द्रव्य संबंधी स्वतंत्र सत्ता और अनेक जीवों की स्वीकृति को देखते हुए ऐसा अर्थ उचित नहीं होगा। स्तोत्र स्वयं कहता है—

"एकीभाव हो आत्म से..."

अतः एकीभाव का आश्रय **आत्मा** है। भगवान के गुणों का चिंतन करते हुए भक्त अपने आत्मस्वरूप में स्थित होने का अभ्यास करता है इसलिए— **एकीभाव भगवान के साथ द्रव्यात्मक विलय नहीं; भगवान के गुणों के साथ भावात्मक साम्य और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होने की साधना है।** यह व्याख्या जैन दर्शन की स्वतंत्र आत्मसत्ता और मोक्षमार्ग दोनों के अनुकूल है।

❖ एकीभाव और भेदज्ञान : विरोधाभास का समाधान

यहाँ एक सूक्ष्म दार्शनिक समस्या उत्पन्न होती है। यदि एकीभाव चाहिए तो भेदज्ञान क्यों ? उत्तर स्तोत्र स्वयं देता है—

"भेदज्ञान की ज्योति से, नशैं सकल जगफंद॥"

भक्त को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप से एकाग्र होना है और उसी समय आत्मा तथा अनात्म के भेद को जानना है। अर्थात्— **एकीभाव आत्मस्वरूप में स्थित होने की दृष्टि है। भेदज्ञान आत्मा और पर के यथार्थ विवेक की दृष्टि है।** एक भीतर की एकाग्रता है; दूसरा बाहर के मोह से विवेकपूर्ण निवर्तन। दोनों मिलकर साधना को पूर्ण करते हैं।

❖ पूजा-सामग्री का आध्यात्मिक रूपांतरण

एकीभाव स्तोत्र की सबसे उल्लेखनीय विशेषताओं में से एक है—**पूजा की बाह्य सामग्री को आत्मसाधना के प्रतीकों में बदल देना।**

पूजा-उपचार	स्तोत्र में संकेतित आंतरिक अर्थ
जल	जन्म-जरा-मरण से मुक्ति
चन्दन	कषाय-शमन एवं शीतलता
अक्षत	अक्षय पद की आकांक्षा
पुष्प	काम-विजय एवं आत्मदृढ़ता
नैवेद्य	आत्मगुणों का पोषण एवं आत्मानुभव
दीप	भेदज्ञान की ज्योति
धूप	अज्ञान-मोह एवं कर्मों का दहन
अर्घ्य	अनर्घ्य आत्मपद की प्राप्ति

इन सभी अर्थों का प्रत्यक्ष आधार पृष्ठ 14—16 के पद्यों में मिलता है। यहाँ पूजा **बाहर से भीतर की ओर चलने वाली प्रतीक-यात्रा** बन जाती है।

❖ भक्ति का मनोविज्ञान : आदर्श का चिंतन और आत्मपरिवर्तन

मनुष्य जिस आदर्श का निरंतर चिंतन करता है, उसकी मनोभूमि धीरे-धीरे उसी दिशा में संस्कारित होती है। यदि धन सर्वोच्च आदर्श है तो लोभ बढ़ेगा। यदि सत्ता सर्वोच्च आदर्श है तो अहंकार बढ़ सकता है। यदि भोग सर्वोच्च आदर्श है तो आसक्ति बढ़ेगी और यदि वीतराग जिन सर्वोच्च आदर्श हैं तो चेतना को वीतरागता की दिशा मिलेगी इसीलिए *एकीभाव स्तोत्र* का बार-बार आने वाला "**जिनभक्ति में हो एकीभाव**" केवल काव्यगत पुनरावृत्ति नहीं है। यह **चेतना के पुनर्संस्कार का आग्रह** है। भक्ति इस अर्थ में मन का पुनर्निर्देशन है।

❖ भक्ति और वैराग्य

भगवान के वीतराग स्वरूप का चिंतन संसार के प्रति वैराग्य को जन्म देता है। भगवान राग-द्वेष से मुक्त हैं। भक्त राग-द्वेष से ग्रस्त है। इन दोनों अवस्थाओं के बीच का अंतर ही साधना की दूरी है इसलिए भगवान की आराधना का वास्तविक प्रभाव संसार के प्रति विवेकपूर्ण वैराग्य होना चाहिए।

भक्ति यदि विषयासक्ति को ही बढ़ा दे, तो वह अपने मूल उद्देश्य से दूर चली गई। अतः— **भगवान की ओर बढ़ती हुई भक्ति, संसार के प्रति घटती हुई आसक्ति का नाम है।**

❖ भक्ति और आत्मगुण

स्तोत्र में आत्मगुणों के जागरण की भावना बार-बार सामने आती है। पृष्ठ 14 में "निर्मल गुण" के जागरण और मोह-क्षोभ के शांत होने की बात है। इससे स्पष्ट है कि भक्ति का उद्देश्य केवल दोषों को दबाना नहीं, बल्कि आत्मगुणों को प्रकट करना है। क्षमा बढ़े। मार्दव बढ़े। आर्जव बढ़े। समता बढ़े। वैराग्य बढ़े। ज्ञान बढ़े। यही भक्ति की उपलब्धि है।

❖ भक्त का वास्तविक स्वरूप : विनयी और पुरुषार्थी

भक्त भगवान के चरणों में झुकता है, लेकिन अपनी मुक्ति के लिए स्वयं पुरुषार्थ करता है। यही कारण है कि *एकीभाव स्तोत्र* में तत्त्वज्ञान, आगम-मंथन और हेय-उपादेय विवेक का आग्रह आता है। इस दृष्टि से भक्त न तो अहंकारी है और न भाग्यवाद का आश्रित। वह विनयी है, पर निष्क्रिय नहीं। वह भगवान की शरण में है, पर अपने पुरुषार्थ से विमुख नहीं। यही संतुलन जैन भक्ति को विशिष्ट बनाता है।

❖ भगवान की महिमा : गुणों की अनंतता

पृष्ठ 16 के बाद की जयमाला में भगवान के अनन्त गुण, वीतरागता, सर्वज्ञता, कर्मक्षय और समवसरण की महिमा का विस्तृत वर्णन मिलता है। भगवान— अठारह दोषों से रहित हैं, वीतराग हैं, सर्वलोक-अलोक के ज्ञाता हैं, कर्मरज का उन्मूलन कर चुके हैं, केवलज्ञान से सम्पन्न हैं, समवसरण में धर्मोपदेश देते हैं। पृष्ठ 17 पर सर्वज्ञता और कर्मक्षय का अत्यंत सुंदर निरूपण है—

"रिपु मोह जीत जगजीत हुए, पद वीतरागतायुक्त हुए।
अठारह दोषों करी हान, हो गए सकल परमात्म ज्ञान॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 17।

यह भगवान के स्वरूप का संक्षिप्त दार्शनिक सूत्र है।

❖ भगवान : ज्ञाता-द्रष्टा

पृष्ठ 17 में कहा गया है—

"रज कर्म सु जड़ उन्मूल किए, ज्ञाता दृष्टा इक साथ हुए।
सब लोकालोक प्रत्यक्ष जान, गुण द्रव्य पर्यायें अप्रमाण॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 17।

भगवान की सर्वज्ञता यहाँ केवल "सब कुछ जानने" की सामान्य धारणा नहीं है; वह **लोक-अलोक, गुण, द्रव्य और पर्याय के प्रत्यक्ष ज्ञान** से जुड़ी है। भक्त के लिए यह ज्ञान आदर्श है। अज्ञान से ज्ञान की यात्रा ही आत्मसाधना की यात्रा है।

❖ भगवान और लोकमंगल

भगवान वीतराग हैं, फिर भी उनका अस्तित्व लोकमंगलकारी है। समवसरण की रचना, देव-मनुष्य-तिर्यंच आदि का उपदेश सुनना और धर्मोपदेश का प्रसार—ये सब भगवान की करुणामय धर्मप्रभावना को व्यक्त करते हैं। यहाँ एक सुंदर विरोधाभास दिखाई देता है— **भगवान स्वयं किसी से कुछ चाहते नहीं, फिर भी उनका अस्तित्व सबके लिए कल्याणकारी है।** यही वीतरागता का सौंदर्य है।

❖ भक्ति का चरम : भगवान को पाना नहीं, भगवानत्व की दिशा पाना

यदि भक्ति का अर्थ केवल भगवान से कुछ प्राप्त करना होता, तो भक्त की यात्रा भगवान के बाहर ही समाप्त हो जाती लेकिन *एकीभाव स्तोत्र* की दिशा अलग है। वह भगवान की स्तुति करता है। भगवान के गुणों का चिंतन करता है। उन गुणों को पूजा के प्रतीकों से जोड़ता है। फिर आत्मगुणों की ओर लौटता है। भेदज्ञान की बात करता है। तत्त्वज्ञान की बात करता है और अंततः **अनर्घ्य निजपद की अनुभूति** की ओर संकेत करता है इसलिए— **भक्ति का चरम भगवान को अपने लिए प्राप्त करना नहीं, अपने भीतर भगवानत्व की संभाव्यता को पहचानना है।**

❖ भक्ति और मोक्ष

स्तोत्र में मोक्ष को "महाफल" कहा गया है—

"मन चाहे मोक्ष महाफल को..."

यहाँ मोक्ष सांसारिक सुख का उच्चतर संस्करण नहीं है। मोक्ष कर्मबंधन से पूर्ण मुक्ति है इसलिए भक्त को पुण्य के सुख में उलझे रहने के स्थान पर तत्त्वज्ञान और आत्मस्वरूप की ओर बढ़ना है। यही कारण है कि स्तोत्र की भक्ति **मोक्षाभिमुख भक्ति** है।

❖ भक्ति : पुण्य से परे जाने की प्रेरणा

सामान्य धार्मिक दृष्टि में पूजा का फल पुण्य माना जाता है। जैन दर्शन में पुण्य का अपना महत्त्व है, परंतु मोक्ष के संदर्भ में पुण्य भी संसार का ही कारण बन सकता है। *एकीभाव स्तोत्र* इस सूक्ष्मता को पहचानता है—

"मन चाहे मोक्ष महाफल को, पर पुण्य-पाप फल में उलझा..."

इसलिए भक्त को पुण्य में भी आसक्ति नहीं करनी है। यहाँ भक्ति की ऊँचाई दिखाई देती है—**पाप से बचो। पुण्य करो लेकिन पुण्य में भी मत अटक जाओ। आत्मस्वरूप की ओर बढ़ो।**

❖ समकालीन संदर्भ : आज एकीभाव स्तोत्र क्यों आवश्यक है ?

आज धार्मिकता का बाहरी विस्तार बहुत है, पर आत्मसाधना का प्रश्न उतना ही प्रासंगिक है। मंदिर हैं, प्रतिमाएँ हैं, पूजन हैं, दीप हैं, धूप हैं, आरतियाँ हैं—लेकिन क्या मन भी बदल रहा है ? यही *एकीभाव स्तोत्र* का आधुनिक प्रश्न है।

- **यदि दीप जला और अज्ञान न घटा—**
  तो भीतर दीप अभी नहीं जला।
- **यदि चन्दन चढ़ा और क्रोध न घटा—**
  तो पूजा अभी अधूरी है।
- **यदि पुष्प चढ़ा और कामना न घटी—**
  तो पुष्प का अर्थ अभी नहीं खुला।
- **यदि नैवेद्य चढ़ा और आत्मगुण न बढ़े—**
  तो नैवेद्य अभी आत्मा तक नहीं पहुँचा।
- **यदि धूप जली और मोह वैसा ही रहा—**
  तो धूप का धुआँ बाहर गया, भीतर नहीं।
- **यदि भगवान के दर्शन हुए और अहंकार वैसा ही रहा—**
  तो भगवान को देखा अवश्य, **भगवान से देखा नहीं।**

यही इस स्तोत्र की समकालीन प्रासंगिकता है।

- **एकीभाव स्तोत्र का साधना-मॉडल**

समग्र अध्ययन के आधार पर स्तोत्र की साधना को निम्न क्रम में देखा जा सकता है— **दर्शन**→वीतराग भगवान का दर्शन। **स्तवन**→ भगवान के गुणों का गान। **गुणानुराग**→ उन गुणों के प्रति आंतरिक आकर्षण। **आत्मपरीक्षण**→ अपने दोषों और कषायों की पहचान। **भेदज्ञान**→ आत्म और पर का विवेक। **तत्त्वज्ञान**→हेय-उपादेय का निर्णय। **आत्मानुभूति**→ निजगुणों का अनुभव। **एकीभाव**→ शुद्ध आत्मस्वरूप में एकाग्रता। **मोक्षाभिमुखता**→ कर्मबंधन से पूर्ण मुक्ति की दिशा। यह क्रम *एकीभाव स्तोत्र* को केवल पूजन-पाठ नहीं, बल्कि **आध्यात्मिक प्रशिक्षण-पद्धति** के रूप में देखने की संभावना देता है।

- **शोध-निष्कर्ष**

समग्र विवेचन के आधार पर निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं— **भगवान का स्वरूप**→*एकीभाव स्तोत्र* में भगवान वीतराग, सर्वज्ञ, दोषरहित, अनन्तगुणसम्पन्न और कर्मक्षय से परमपद प्राप्त चेतना हैं। **भक्त का स्वरूप**→ भक्त संसारबद्ध होते हुए भी आत्मजागरण के लिए प्रयत्नशील साधक है। वह केवल याचक नहीं, **पुरुषार्थी साधक** है। **भक्ति का स्वरूप**→ भक्ति केवल स्तुति, पूजा या उपचार नहीं; वह **गुणानुराग से आत्मपरिणमन तक की यात्रा** है। **एकीभाव का अर्थ**→ एकीभाव जीव और भगवान की द्रव्यात्मक एकता नहीं, बल्कि भगवान के गुणों की दिशा में आत्मचेतना का एकाग्र होना है। **भक्ति और ज्ञान**→ भक्ति ज्ञान-विरोधी नहीं। तत्त्वज्ञान, आगम-मंथन और भेदज्ञान को भक्ति की परिपक्वता का आवश्यक अंग माना गया है। **पूजा और आत्मसाधना** →जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अर्घ्य जैसे उपचारों को स्तोत्र आत्मशुद्धि और आत्मानुभूति के प्रतीकों में बदल देता है। **भक्ति का चरम**→ भक्ति का चरम सांसारिक उपलब्धि या पुण्यफल नहीं, बल्कि **आत्मगुणों का जागरण, भेदज्ञान और मोक्षाभिमुख आत्मानुभूति** है।

- **उपसंहार : भगवान बाहर के आदर्श, भीतर की दिशा**

एकीभाव स्तोत्र भगवान, भक्त और भक्ति के संबंध को अत्यंत सूक्ष्मता से प्रस्तुत करता है। यहाँ भगवान पूर्णता के प्रतीक हैं; भक्त अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ती हुई चेतना है और भक्ति उस यात्रा की भावात्मक तथा आध्यात्मिक ऊर्जा है। भगवान को देखकर भक्त अपने दोष देखता है। भगवान की वीतरागता देखकर अपने राग को पहचानता है। भगवान की क्षमा देखकर अपने क्रोध को

पहचानता है। भगवान के ज्ञान को देखकर अपने अज्ञान को पहचानता है और भगवान की निर्मलता को देखकर अपने आत्मस्वरूप की संभावना पहचानता है। यही पहचान धीरे-धीरे भक्ति बनती है, भक्ति साधना बनती है और साधना आत्मानुभूति की ओर बढ़ती है इसलिए *एकीभाव स्तोत्र* का "एकीभाव" अत्यंत अर्थगर्भित है— **भगवान से द्रव्यात्मक एकता नहीं, भगवान के गुणों की दिशा में भावात्मक एकाग्रता** और यही कारण है कि स्तोत्र का अत्यंत महत्त्वपूर्ण उद्घोष—

"एकीभाव हो आत्म से, मिट जाएँ सब द्वंद्व।
भेदज्ञान की ज्योति से, नशैं सकल जगफंद॥"

— *एकीभाव स्तोत्र*, पृ. 14।

पूरे शोध का सार बन जाता है। **भगवान आराध्य हैं। भक्त आराधक है। भक्ति आराधना की प्रक्रिया है। आत्मा आराधना की अंतिम भूमि है।** अतः— **भगवान को पूजना आरंभ है, भगवान के गुणों को समझना विकास है, उन गुणों को जीवन में उतारना साधना है, और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना भक्ति की सार्थक परिणति है।** यही *एकीभाव स्तोत्र* की सबसे बड़ी दार्शनिक उपलब्धि है कि वह **मंदिर के भगवान से मन के भगवान तक और मन के भगवान से निज आत्मस्वरूप तक की यात्रा** कराता है। और शायद इसी को एक वाक्य में कहा जा सकता है— **"भगवान को बाहर पूजो, पर उनकी वीतरागता को भीतर जगाओ—यही एकीभाव है।"**

❖ संदर्भ-ग्रंथ

1. **एकीभाव स्तोत्र बीजाक्षर विधान**
2. *एकीभाव स्तोत्र*, विशेषतः पृ. 14—18—भगवान, जिनभक्ति, एकीभाव, आत्मगुण, पूजा-उपचार, भेदज्ञान, तत्त्वज्ञान, मोक्ष तथा भगवान के स्वरूप संबंधी पद्य।

❖ प्रमुख पद्य-संदर्भ सारणी

विषय	उद्धृत पद्य	पृष्ठ
एकीभाव और भेदज्ञान	"एकीभाव हो आत्म से..."	14
जिनभक्ति और एकीभाव	"जिनभक्ति में हो एकीभाव..."	14
चन्दन और कषाय-शमन	"शीतल चंदन तरु रूप विभो..."	14

अक्षय पद	"अक्षय अजरामर द्रव्य दृष्टि..."	15
पुष्प और काम-विजय	"पुष्पों से कोमल आतम यह..."	15
नैवेद्य और आत्मानुभव	"नाना व्यंजन से तनपोषण..."	15
दीप और भेदज्ञान	"दीपावलियाँ प्रज्वलित करें..."	15
धूप और अज्ञान-मोह दहन	"ये धूप सुगंधित जग व्यापी..."	15
तत्त्वज्ञान और मोक्ष	"मन चाहे मोक्ष महाफल को..."	16
आत्मपद और कर्मरहित अवस्था	"निर्मल निर्लेप निरामय पद..."	16
भगवान का वीतराग स्वरूप	"रिपु मोह जीत जगजीत हुए..."	17
सर्वज्ञता	"रज कर्म सु जड़ उन्मूल किए..."	17
भगवान की वीतराग महिमा	"भव शिवसुख जिनभक्ति प्रताप..."	18
व्रत, समता और राग-द्वेष क्षय	"हो निरतिचार व्रत का पालन..."	18

उपर्युक्त सभी पद्य और उनके पृष्ठ-संदर्भ संलग्न *एकीभाव स्तोत्र बीजाक्षर विधान* के पाठ से लिए गए हैं।